42

संस्कृत-पाठशाला

मेरे पिताजी ने गया में संस्कृत शिक्षा के लिए रामविनोद पाठशाला के नाम से एक संस्कृत विद्यालय स्थापित कर रक्खा था जिसमें विद्यार्थियों के आवास और भोजन की व्यवस्था चंदे द्वारा की जाती थी। इस विद्यालय के प्रधान शिक्षक पंडित महावीरजी द्वारा मुझे घर पर संस्कृत की थोड़ी-बहुत शिक्षा भी दिलायी गयी थी और मैंने स्कूल के दिनों में ही संस्कृत की प्रथमा परीक्षा उत्तीर्ण कर ली थी। मेरी पुस्तक **अहल्या** की संस्कृतनिष्ठ भाषा पर मेरी संस्कृतशिक्षा के प्रारंभिक संस्कार का ही प्रभाव है। आम धारणा के विपरीत मैंने धातुरूप और शब्दरूप कभी रटे नहीं। पंडितजी जिन्हें कंठस्थ करने को कहते उन्हें व्याकरण की पुस्तक में उनके आने के पूर्व मैं एक बार देख भर लेता। मैं मुख्यरूप से यह समझ लेता कि दूसरे शब्दरूप या धातुरूप से उनमें कहाँ क्या अंतर हैं। पंडितजी के पूछते ही मैं उन्हें सही-सही सुना देता। इसमें पूर्वजन्म के संस्कारों को कारण मानें या मेरी तीव्र स्मरण शक्ति को, किसी भी अवस्था में मेरा निजी अनुभव तो यही रहा है कि संस्कृत भाषा की कठिनता का जितना आतंक आम जनता में है, वह वास्तव में उतनी कठिन नहीं है। उसमें पूर्ण आतंरिक व्यवस्था है जिसको हृदयगम करने पर सरल लगने लगती है।

इस संस्कृत-विद्यालय का संचालन बाद में मुझे ही करना पड़ा। उसके संचालन के अनुभव से मैं जान गया हूँ कि संस्कृत-शिक्षा को जब तक आम विद्यालयों में एक विषय के रूप में नहीं पढ़ाया जायगा, उसे विनष्ट होने से नहीं बचाया जा सकेगा। संस्कृत-विद्यालयों में मुफ्त भोजन, आवास और शिक्षण की व्यवस्था होने पर भी विद्यार्थी नहीं जुड़ पाते हैं। सिवा पूजापाठ और मांगलिक संस्कारों को संपन्न कराने के, भावी जीवन में संस्कृत-शिक्षा का कोई विशेष आर्थिक प्रयोजन शेष नहीं रहा है। पंडितवर्ग भी अपने पुत्रों से पंडिताई कराने की बनिस्बत उन्हें उच्च सरकारी पदों पर प्रतिष्ठित देखना चाहता है। धार्मिक

संस्कारों पर न तो जनता की पहले जैसी श्रद्धा है, न उनसे पहले जैसी आय ही हो पाती है।

मैंने रामविनोद पाठशाला में एक पंडित की व्यवस्था नगरपालिका की ओर से भी कर दी थी। दो पंडितों का वेतन दरभंगा-स्थित संस्कृत-विश्वविद्यालय की ओर से मिलता था तथा विद्यार्थियों के भोजन की व्यवस्था चंदे द्वारा होती थी। विद्यार्थियों के रहने का स्थान एक मकान में था जो गया के एक बड़े मंदिर की संपत्ति था और जिसके लिए कोई किराया नहीं देना पड़ता था। मंदिर के संस्कृतप्रेमी मंहत के दिवंगत हो जाने पर एक दुराचारी व्यक्ति उसका महंत बन गया। विद्यार्थियों की उपस्थिति उसके स्वेच्छाचार में बाधक थी अतः उसने अवकाश के दिनों में विद्यार्थियों की अनुपस्थिति में उनके द्वारा उपयोग किये जाने वाले पूरे भवन में आग लगा दी जिससे खपरैल का भवन तो जल ही गया, विद्यार्थियों के पीढ़े और पुस्तकें भी नष्ट हो गयीं। मैंने उस महंत पर आगलगी का मुकदमा तो कर दिया परंतु विद्यार्थियों के आवास की समस्या तो उपस्थित हो ही गयी। महंत ने अपनी जान बचाने को हलका विषपान करके विद्यालय के तीनों शिक्षकों पर यह आरोप लगा दिया कि उन्होंने उसकी हत्या के लिए उसे विष दे दिया है। मैं नगरपालिका में था ही। मैंने एक दूसरे किराये का मकान लिया और नगरपालिका से उसके किराये की व्यवस्था करवा दी। महंत को आगलगी के मुकदमें में सजा हुई और विषपान का उसका आरोप निरस्त हुआ। इन सब कठिनाइयों से उबरने पर भी विद्यालय में विद्यार्थियों के अभाव की समस्या का क्या समाधान हो सकता था! अंत में 15-20 वर्षों तक किसी प्रकार खेते रहने के बाद विद्यार्थियों के अभाव में विद्यालय को बंद कर देना पड़ा।